सत्यार्थ-प्रकाशक-माला सं० १

दश-प्रश्नी

अर्थात्

आर्यसमाज के मौलिक तथा वर्त्तमान

स्वरूप की जांच-पड़ताल करने

के लिए एक प्रेरणा ।

दीपावली, सं० १९९०

मूल्य एक आना

बालकृष्ण ने सत्यार्थ-प्रकाशक-माला कार्य्यालय लाहौर से
प्रकाशित किया ।

॥ ओ३म् ॥

आर्य्यसमाज के नियम।

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि-मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्य्यों का परमधर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना आर्य्यसमाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीति-पूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में न संतुष्ट रहना चाहिए किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

॥ ओ३म् ॥

प्रस्तावना

"सत्यमेव जयते नानृतं"

आज अजमेर नगर में अद्भुत चहल-पहल है। सड़कों पर बाज़ारों में, गलियों और मुहल्लों में हजारों नये नर नारियों के दर्शन हो रहे हैं। यह नव-आगत जनता, अपने परम-पूज्य आर्य समाज के प्रवर्त्तक, महर्षि दयानन्द सरस्वती की निर्वाण-अर्ध-शताब्दी के पवित्र पर्व के प्रसंग से यहा एकत्रित हो रही है। बुद्धिमान् नेताओं ने आर्य-वर्ग के हृदयों में नये जीवन तथा नये उल्लास के संचार के उद्देश्य से इस महान् मेले की आयोजना करते हुए कितना अच्छा अवसर प्रस्तुत किया है कि हम सब लोग, सच्चे हृदय से अपने गुरुदेव का आदर करने वाले तथा आर्य समाज का हित चाहते हुए अपनी २ शक्ति के अनुसार उसकी सेवा करने वाले हैं, इस पुरानी राजपूताने की परम पुनीत धरती पर बैठ कर, शान्ति तथा धैर्य के साथ आर्य समाज के संबन्ध में कुछ विचार करें। और इस से बढ़ कर और कौनसा विचार हो सकता है कि आर्यसमाज श्री स्वामी जी महाराज के अभिप्राय के अनुसार किस लक्ष्य को लेकर किस परिस्थिति के अन्दर प्रकट हुआ और उस की वर्त्तमान गति किस प्रकार की है।

इसी विचार-धारा को चलाने में सहायता करने के उद्देश्य से यह थोड़े से पृष्ठ आर्यजनता के सामने उपस्थित किये जाते हैं। उपर्युक्त प्रश्न के हल करने में आरम्भिक इतिहास बहुत लाभ-दायक होगा और वह भी यदि उस समय के किसी प्रसिद्ध पात्र के मुख से निकलेगा तो और भी अधिक अच्छा होगा इस भाव

से प्रेरित हो कर, इन पृष्ठों में अपनी ओर से टीका-टिप्पणी न करते हुए, ऐसे यथार्थ इतिहास को ही दिया जावेगा। श्री स्वामी जी महाराज के परम प्यारे, आर्यसमाज लाहौर के पहिले प्रधान, परोपकारिणी सभा, अजमेर के प्रमुख अधिकारी और उस समय के प्रथम कोटि के पुराने आर्य नायकों में से एक मात्र जीवन्त-जागृत, राय बहादुर श्रयुत मूलराज जी एम० ए० ने प्रत्येक प्रश्न का जिस प्रकार उत्तर दिया है, उसी प्रकार यहां एक वार्तालाप के ढंग पर उद्धृत कर दिया जावेगा। आशा करनी चाहिये कि आर्य वर्ग इन पृष्ठों को साधारण ट्रैक्ट समझ कर यों ही फेंक नहीं देंगे वरन् इसे ध्यान पूर्वक पढेंगे और इस की एक २ बात पर पूरा मनन करते हुए अपने लिये तथा आर्यसमाज के लिये अवश्य किसी उपयोगी परिणाम पर पहुंचेंगे।

श्री स्वामी जी महाराज की सत्य में अगाध श्रद्धा थी। उसी का उन्हों ने अपनी शक्ति के अनुसार प्रचार किया। आर्य मात्र का यह कर्त्तव्य है कि उन के पाद-चिह्नों पर चलते हुए, सत्य के ग्रहण करने के लिये तथा असत्य के, चाहे वह अपना ही क्यों न हो, त्यागने के लिये सदा उद्यत रहें। इसी में आर्यत्व का सार है, इसी के द्वारा आर्यसमाज सच्चा आर्यसमाज बनेगा।

वार्तालाप

प्रश्न (१) आप ने कहां, कब और कैसे श्री स्वामी जी से भेंट की ?

उत्तर (१) जनवरी, १८७७ ईसवी में श्री स्वामी जी देहली में विराजमान थे। वहां से वह मेरठ होते हुए लुधियाना में पधारे। गरमियों के आरम्भ में लाहौर के कुछ भद्र पुरुषों ने उन्हें लाहोर में निमन्त्रित किया। जब वह वहां पर पहुंचे, तो उन के निवास का प्रबन्ध रतनचन्द दाढ़ी वाला के बाग़ में किया गया

और उन के डेरे की दूसरी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये उन्हीं सज्जनों ने ३) रु० प्रतिदिन का प्रबन्ध कर दिया। जब उन्हों ने मूर्त्ति-पूजा का खण्डन किया तो, उस बाग के मालिक दीवान भगवान् दास दाढ़ी वाला ने उन के वहां रहने में रुकावट डाली। इसलिये उन के निवास के लिये खानबहादुर डाक्टर रहीमखान की कोठी में, जो कि छज्जू भक्त की समाधि तथा मेडिकल कालेज के छेदनालय (Dissection Hall) के बीच में थी प्रबन्ध किया गया।

मैं उस समय अपने भाई, श्रीयुत शिवदयाल जी बी० ए०, एसिस्टेण्ट इञ्जिनीयर के पास मरी पहाड पर ठहरा हुआ था। स्वर्गीय राय बहादुर दौलतराम जी जो कि उन दिनों पोस्ट-मास्टर जैनरल के दफतर में सुप्रिटेण्डेण्ट थे, उसी समय लाहौर से मरी आये थे। वह श्री स्वामी जी के मनोहर व्याख्यानों से इतने प्रभावित हो कर आये थे कि मैं जब भी उन से मिलता, वह उन्हीं की चर्चा करते थे। उन्हों ने मुझ श्री स्वामी जी कृत वेदभाष्य भूमिका के दो तीन अङ्क पढ़ने को भी दिये। मेरी अवस्था उस समय २२ वर्ष की थी। मेरे अन्दर श्री स्वामी जी के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा पैदा हुई। मैं ने पहाड़ की ठंडक को छोड़ा और लाहौर की गरमी के लिये रवाना हुआ। रेल गाड़ी अभी लाहौर से जेहलम तक ही चलती थी मैं उसमें सवार होकर, तीसरे पहर लाहौर पहुंचा। मैं उसी सायं को डाक्टर रहीमखान साहिब के बंगले में गया और श्री स्वामी जी के दर्शन किये। तत्पश्चात् मैं प्रतिदिन उनकी सेवा में जाता रहा।

प्र० (२) आर्यसमाज कब और कैसे व्यवस्थित रूप से बना ? आप का इस कार्य में कहां तक हाथ रहा ?

उ० (२) लाहौर आने से दो वर्ष पूर्व, सन् १८७५ में श्री स्वामी जी द्वारा मुंबई में आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। उसी सिलसिले में भिन्न २ स्थानों पर होते हुए वह इधर आये थे। जब उन के विचारों से भली प्रकार प्रभावित हो कर लाहौर

के लोगों के अन्दर आर्यसमाज स्थापित करने का भाव पैदा हुआ, तो मुझे भी समाज की व्यवस्था-पद्धति बनाने के कार्य में शामिल किया गया। श्री स्वामी जी द्वारा पहले की बनी हुई 'आर्य समाज नियम-व्यवस्था' के आधार पर तथा उन की देख रेख में आर्यसमाज के दस नियमों तथा चालीस उपनियमों की व्यवस्था बांधी गयी। इन्हीं नियमों तथा उपनियमों की व्यवस्था को तदुपरान्त मुम्बई आर्यसमाज ने भी स्वीकार कर लिया। तब से सर्वत्र यही व्यवस्था आर्यसमाज की बनावट का आधार बनी चली आ रही है।

प्र० (३) लाहौर के ब्राह्मसमाजियों का श्री स्वामी जी से किन बारे में मत-भेद हुआ।

उ० (३) पहले तो वे लोग उन के भक्त बने हुए थे। उन के निर्वाहार्थ धन आदि द्वारा सेवा भी करते थे। परन्तु जब आर्य समाज संगठित होने लगा, तो उन्हों ने यह चाहा कि उस के नियमों में वेद की तरफ कोई इशारा न किया जावे। यह श्री स्वामी जी को कभी भी स्वीकार न हो सकता था, क्योंकि वह तो वेद आदि सच्छास्त्रों के स्वाध्याय तथा प्रचार को हिन्दुओं के उद्धार का परम आधार समझते थे। इसी बात पर ब्राह्मसमाजी उन की ओर से उदासीन हो गये और उन की सेवा शुश्रूषा में भाग लेने से भी हट गये।

प्र० (४) श्री स्वामी जी की वेद में किस प्रकार की धारणा थी?

उ० (४) वह वेद को नित्य, अपौरुषेय तथा सब विद्या विज्ञान से पूर्ण मानते थे। एक बार की बात है कि वह लाहौर आर्यसमाज में, जोकि उस समय अनारकली में एक मकान के अन्दर, जहांकि पीछे 'ट्रिब्यून' पत्र का दफ़तर भी कई वर्ष रहा, लगा करता था, जब व्याख्यान दे चुके तो ब्राह्मसमाज के सभासद् तथा पीछे आकर देवसमाज के प्रवर्त्तक के रूप में श्री देवगुरु भगवान् नाम से प्रसिद्ध, प० शिवनारायण अग्निहोत्री ने उन से दर्श पूर्णमास-

हवन के एक मंत्र का अर्थ पूछा। मंत्र का अभिप्राय यह था कि जब यजमान तथा उस की पत्नी धान को छड़ते हैं, तो मूसल के बजने की ऊंची ध्वनि निकलती है। प० शिवनारायण ने प्रश्न किया कि इस में कौन सी विज्ञान की बात पाई जाती है ? श्री स्वामी जी ने उत्तर में कहा कि इस में तो सब से मुख्य, 'पुरुष-विद्या' पायी जाती है। अर्थात्, यजमान तथा उस की पत्नी को चाहिए कि इतने बलवान बनें कि वे उस प्रकार मूसल को गुंजा सकें। उन्हों ने प्रश्नकर्ता के दुबलेपन को (उस समय वह बहुत दुबले पतले हुआ करते थे) लक्ष्य करके कहा कि आप के लिए ऐसा कर सकना बड़ा कठिन होगा। इस पर वह तथा उन के ब्राह्मसमाजी साथी लज्जित होकर चले गये। परन्तु श्री स्वामी जी वैदिक विद्या के भक्त होते हुए भी जड ग्रन्थों की पूजा करने वाले न थे। एक बार १८७७ में वह लाहौर से पश्चिमोत्तर में कहीं प्रचारार्थ जाने वाले थे। गाड़ी में अभी कुच्छ देर थी। हम सब प्लेटफार्म पर खडे थे। बेंच मौजूद न था। पुस्तकों के गट्ठे बन्धे हुए रखे थे। श्री स्वामी जी उन में से ही एक पर बैठ गए। हम में से किसी ने कहा कि महाराज' आप तो वेदों पर बैठ गए हैं। क्या इस से उन का अपमान नहीं होता ? 'नहीं" झट स्वामी जी ने उत्तर दिया, 'मैं तो उन कागजों पर बैठा हूं जिन पर वेद छपे हुए हैं। इस से वेदों का निरादर नहीं होता।"

प्र० (५) आर्यसमाज में प्रविष्ट होने के लिए क्या शर्त रखी गयी थी ?

उ० (५) तीसरे नियम के टिप्पण में वह आवेदन पत्र दर्ज है जिसे प्रत्येक व्यक्ति के लिये, जो आर्यसमाज में शामिल होना चाहता हो, भरना निश्चित किया गया था। उस के द्वारा वह आर्यसमाज के उपर्युक्त दस नियमों के अनुसार आचरण करना स्वीकार करता था।

प्र० (६) इन नियमों का तात्पर्य क्या है ?

उ० (६) श्री स्वामी जी का आर्यसमाज बनाते हुए भाव यह था कि इस के सदस्य उत्तम धार्मिक मनुष्य बन कर हिन्दु जाति का पुनः उद्धार करें। इस मानव-विकास की सम्पूर्ण पद्धति इन दस नियमों में मौजूद है। इन के अनुसार हर-एक आर्यसमाजी के लिये एक, सत्य, नित्य, शरीर आदि के बन्धन से रहित प्रभु को मान कर उसी का पूजन करना जरूरी है। उसे वेद का स्वाध्याय करना, उसे पढ़ना, पढ़ाना अपना परम धर्म समझना चाहिये। उसे सर्वदा सत्य का ग्रहण करने तथा असत्य को त्यागने और अपने सब व्यवहार न्यायपूर्वक करने के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये। उस का यह कर्त्तव्य है कि वह संसार के शारीरिक, मानसिक, आत्मिक तथा सामाजिक अभ्युदय के लिये सदा लगा रहे और सब के कल्याण में अपना कल्याण समझे। उस को चाहिये कि सदा विद्या का प्रचार तथा अविद्या का नाश करता रहे। और, अन्त में, उसे यह समझ लेना चाहिये कि जहां उसे अपनेमात्र के साथ सम्बन्ध रखने वाली बातों में पूर्ण स्वतन्त्रता होगी, वहां सामाजिक हित की बातों में उसे अपने व्यक्ति का स्वार्थ छोड़ कर अपने व्यवहार को दूसरों के हित के आधीन करके रखना होगा। कितना सुन्दर तथा उच्च आदर्श है जो इन नियमों द्वारा श्री स्वामी जी ने हर-एक आर्य समाजी के सामने रखा है। इन पर आचरण करने से मनुष्य भगवद्-भक्त, ऋषि-भक्त, सत्यप्रिय, न्यायशील, विद्या-प्रेमी, स्वार्थरहित, परोपकारी तथा सामाजिक संगठन का बढ़ाने वाला बन सकता है।

प्र० (७) क्या इन नियमों के बनने पर आप को पूर्वोक्त आवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर करने में कुछ संकोच था? यदि था, तो वह कैसे दूर हुआ, क्योंकि आप तो लाहौर आर्य समाज के प्रथम प्रधान चुने गये थे?

उ० (७) हां, ठीक है। मुझे तीसरे नियम के संबन्ध में ही उस समय कुछ संकोच था। मैं ने श्री स्वामी जी से कहा कि मैं

ने अभी तक वेद को नहीं पढ़ा, इस लिये मैं कैसे कह सकता हूं कि वह सत्य-विद्या का पुस्तक है ? इस पर उन्हों ने मुझ से पूछा कि क्या आप हिन्दु समाज के पुनर्जीवन के लिए वेद का उद्धार करना ज़रूरी समझते हैं ? मुझ इस बात की सत्यता में विश्वास था। इस लिये इस का मैं ने हां में ही उत्तर दिया। तब वह संतुष्ट होकर कहने लगे कि "बस, यही इस नियम का तात्पर्य है। मैं चाहता हू कि सब लोगों का वेद की तरफ़ मुख हो जावे। आप इसे पढ़ने में लग जाओ। शनैः २ इस की सत्यता का आप को अपने आप पता लग जावेगा।" इस व्याख्या से मेरा सब संकोच दूर होगया और तभी से लेकर मैं आज दिन तक आर्यसमाज में शामिल चला आता हूं और यथाशक्ति वैदिक स्वाध्याय के नियम पर आचरण करता रहता हू।

प्र० (८). क्या इन नियमों के साथ श्री स्वामी जी कृत ग्रन्थों में लिखी हुई सभी बातों को मानना आर्यसमाज का सभासद् होने के लिये आवश्यक है ?

उ० (८) नहीं। जेसा मैं पहले कह चुका हूं, श्री स्वामी जी का आर्यसमाज बनाने का उद्देश्य प्राचीन वैदिक आदर्श के अनुसार उच्च जीवन के धनी व्यक्ति पैदा करना था। इसी अभिप्राय से वह चाहते थे कि लोगों में स्वाध्याय का प्रचार हो और प्राचीन वेद विद्या फिर जीवन को प्राप्त हो। इसी विचार से उन्हों ने अपने ग्रन्थ रचे तथा वेद-भाष्य किया। पर इसका यह मतलब कभी नही था कि आर्यसमाज के मैम्बरों के लिये यह ज़रूरी है कि वे सब उन के दार्शनिक तथा सभी दूसरे विचारों मे उन के साथ सम्पूर्णतया सहमत हों। उन के 'मन्तव्य' तथा 'अमन्तव्य' उन्हीं के थे। अतः उन्हों ने सत्यार्थप्रकाश के अन्त में उन विचारों के साथ 'स्व' अर्थात् 'अपने' का विशेषण जोड़ा था। उन का आदर करना तथा पूर्व कहे दस सार्वजनिक नियमों के आचरण में उन के पीछे चलना, हमारा गौरव है।

परन्तु व्यक्ति-गत विचारों तथा अन्य बातों में अपनी बुद्धि को बिल्कुल प्रयोग में न लाना, कम से कम, आर्य समाज में पहले आने वाले नेताओं को, जो कि श्री स्वामी जी का भाव भली भांति भांप चुके थे, कभी भी स्वीकार न था। इस बात की ऐतिहासिक पुष्टि भी मौजूद है। श्री स्वामी जी के देहान्त के पीछे, दिसम्बर, १८८३ में अजमेर में परोपकारिणी सभा की बैठक थी। उस समय एक महानुभाव ने यह प्रस्ताव किया कि आर्य समाजियों के लिये श्री स्वामी जी के 'स्वमन्तव्यों' पर हस्ताक्षर करने भी ज़रूरी कर दिये जावें। उस पर श्रीयुत स्वर्गीय लाला साईं दास जी ने, जो उस समय लाहौर आर्य समाज के प्रधान थे, यह स्पष्ट रूप से घोषणा की कि ऐसा करना आर्य समाज के मौलिक अभिप्राय के विरुद्ध है। आर्य समाज के प्रत्येक मैम्बर के लिये केवल दस नियमों पर आचरण स्वीकार करना ही ज़रूरी है। हां, श्री स्वामी जी के विचारों का आदर करना चाहिये। परन्तु उन से उन के बारे में मत-भेद भी हो, तो भी कोई डरने की बात नहीं है।

इस से स्पष्ट है कि आरम्भ में इस विषय मे आर्य्यसमाज के प्रधान पुरुष कैसा समझते थे। यह बड़े दु:ख की बात है कि आर्य्यसमाज के अन्दर कुच्छ ऐसे लोग पैदा होते रहे हैं जो श्री स्वामी जी की उदारता तथा सत्यप्रियता को भूल कर व्यक्तिगत विचार-धारा को रोक कर सब को अपने २ लिए सोचने के अभ्यास से हटाने के पक्ष में रहे हैं। उन की इस अनुचित तथा ग़लत नीति का यह फल हो रहा है कि आर्य्यसमाज एक संकुचित सम्प्रदाय की सीमा के अन्दर बन्द हुआ चाहता है। श्री स्वामी जी को किसी पन्थ या सम्प्रदाय को चलाने की इच्छा नहीं थी। वह साम्प्रदायिक संकोच के कट्टर विरोधी थे। वह तो आचरण बल रखने वाले, उदार, विशाल, वैदिक धर्म के सेवकों को संसार का पुनरुद्धार करते हुए देखना चाहते थे।

क्योंकि आर्य्यसमाजी साधारणतया उन के इस महान्

लक्ष्य को समझने मे असमर्थ रहे है, इस की ओर विशेष रूप से बढ़ नहीं पाए और स्वाध्याय में क्रियात्मक रुचि पैदा नहीं कर सके, इस लिए वे हिन्दु समाज की बीमारी का इलाज भी नही कर सके। वे इस की दुर्गति को हटा कर, संगठित हो कर आगे बढ़ना इसे नहीं सिखा सके। यदि वे इस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को दबाने की तथा विचार को दवाने की मिथ्या नीति को नहीं छोड़ेंगे, तो लाभ तो कहां, भय है कि वे अधिक हानि करने वाले होंगे।

मैं पहले बता चुका हूं कि आर्यसमाज मे जब कोई शामिल होता था तो दस नियमों के अनुसार व्यवहार करना ही स्वीकार करता था। वह श्री स्वामी जी के निर्भ्रान्त होने, उन के मन्तव्यों मे विश्वास करने, उन के वेद-भाष्य को सर्वथा ठीक समझने, विशेष वादों, विचारों या सिद्धान्तों के मानने अथवा बहुपक्ष की सम्मति से दब कर अपने व्यक्तिगत विचारों को दवाने के लिए, अपने आप को कभी भी न बाधता था। इस लिए यह कैसे ठीक हो सकता है कि किसी व्यक्ति को अब श्री स्वामी जी के या वर्त्तमान, शक्ति-सम्पन्न बहुपक्ष के विचारों के अधीन अपनी बुद्धि को करने पर बाधित किया जावे।

प्र० (६) क्या श्री स्वामी जी के ग्रन्थ जैसे उन्हों ने बनाये थे, वैसे ही चले आते है ?

उ० (६) नहीं। सत्यार्थप्रकाश प्रथम बार १८७५ मे तथा संस्कारविधि १८७७ में छपे थे। यह एक प्रसिद्ध बात है कि इन ग्रन्थों में कई ऐसे विषय हैं जिन का इन में एक प्रकार से वर्णन पाया जाता है और इन्हीं के दूसरे संस्करणों मे जो श्री स्वामी जी के देहान्त के उपरान्त छपे, दूसरे प्रकार से मिलता है। पहले सत्यार्थप्रकाश में (पृष्ठ ३०१, ३०२) श्री स्वामी जी ने यह शिक्षा दी थी कि मांस तथा अन्य खाद्य पदार्थों का यज्ञ मे होमने के पश्चात् सेवन किया जावे। पहली संस्कारविधि में (पृष्ठ ४२)

उन्हों ने अन्नप्राशन संस्कार के अवसर पर बच्चों को तीतर का शोरवा पिलाने का विधान किया था। इन बातों का अब प्रचलित इन ग्रन्थों में कोई इशारा नहीं पाया जाता। यह ठीक है कि कुच्छ बातों को श्री स्वामी जी ने स्वयं भी बदला था। परन्तु इस में भी संदेह नहीं कि दूसरे लोगों ने भी बीच में दखल दिया है। इस बारे में, मैं आप को दो विशेष घटनाएं सुनाता हूं। सन् १८९१ के आरम्भ में मुन्शी समर्थदान, भूतपूर्व मैनेजर वैदिक-यन्त्रालय, अमृतसर में मुझे मिलने को आए। उन्हों ने उस अवसर पर मुझे बताया कि श्री स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश, दूसरे संस्करण के भक्ष्य-अभक्ष्य संबन्धी, दसवें समुल्लास में मांस खाने की इजाजत दी हुई थी। परन्तु क्योंकि उन दिनों वह मांसभोजन के बड़े विरोधी थे, उन्हों ने श्री स्वामी जी की अनुमति के विरुद्ध, अपनी इच्छानुसार, उन पंक्तियों को छपने नहीं दिया। जब उसी वर्ष, सितम्बर महीने में मैं परोपकारिणी सभा की बैठक में शामिल होने के लिए अजमेर गया, तो उन्हों ने मुझे वह मूल हस्तलिखित ग्रन्थ निकलवा कर दिखलाया, जिस के हाशिए पर श्री स्वामी जी ने उन मांस विषयक पंक्तियों को अपने हाथ से लिखा हुआ था। वह ग्रन्थ इस समय तक वैदिक यन्त्रालय अजमेर में सुरक्षित है और अब तक कितने ही और व्यक्ति भी उसे देख चुके हैं।

परोपकारिणी सभा में एक दूसरी बात पर भी विचार किया गया था। आर्यसमाज के लोगों में इस बात पर बड़ा दुःख मनाया जा रहा था कि सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि के दूसरे संस्करणों में कितनी ही बातें अशुद्ध छापी गयी थीं। उस के इलाज के लिए वहां पर एक उपसभा बनायी गयी थी ताकि वह उन ग्रन्थों को ठीक करे। तत्पश्चात् उस उपसभा द्वारा शोधित होकर यह ग्रन्थ छपे।

इस प्रकार के हस्तक्षेपों के सिवाय, एक और भी प्रकार था जिस से श्री स्वामी जी के ग्रन्थों में दूसरों का हाथ समझा जा

सकता है। १८७७ के पीछे उन्हें बहुत ही अधिक कार्य करना पड़ता था। वह प्रातः काल से लेकर रात तक स्वाध्याय, विचार, शास्त्रार्थ, वार्त्तालाप तथा व्याख्यान आदि में लगे रहते थे। फिर साथ ही, वह लगातार यात्रा पर भी रहते थे। इस परिस्थिति मे वह अपने नियुक्त पण्डितों को पास बिठा कर बोल कर लिखाते जाते थे। बहुत बार जो कुच्छ वह चाहते थे, उसका आशय उन्हें समझा देते थे और उन्हें अपने आप लिख लेने को कह देते थे। वह स्वयं अपने हाथ से कभी ही कुच्छ लिखते थे। वेद-भाष्य का संस्कृत-भाग उन्हों ने इस प्रकार बोल कर लिखाया था। हिन्दी भाग के पण्डितों का बनाया तथा लिखा हुआ है। २८ दिसम्बर, १८८३ को जो परोपकारिणी सभा की बैठक हुई, उस में थी स्वामी जी जितना वेद-भाष्य कर गए थे, इसे नोट किया गया तथा उस के हिन्दी भाग को बना कर पूरा करने के लिए पं० भीमसेन तथा पं० ज्वालादत्त को पच्चीस २ रुपया माहवार पर नौकर रखा गया।

इस विवरण से यह पता लग सकता है कि किस प्रकार श्री स्वामी जी के वर्त्तमान ग्रन्थों के बारे में यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि कौन से शब्द या वाक्य उन के अपने हैं और कौन से दूसरे लोगों के हैं।

प्र० (१०) अब आर्यसमाज की उन्नति कैसे हो सकती है?

उ० (१०) जो कुच्छ इस का प्रवर्त्तक चाहता था कि हम करें, उस पर आचरण करने से ही आर्यसमाज बढ़ सकता है। श्री स्वामी जी ने प्रत्येक आर्यसमाजी व्यक्ति के लिये दस नियमों पर आचरण करते हुए स्वयं पूर्ण उन्नत होना तथा दूसरों का भला करते रहना जरूरी बताया था। हमें चाहिये कि हम इसी बात को सदा अपने आगे रखें। जैसे वह अपने सब मन्तव्यों तथा विचारों को अपने व्यक्तिगत मन्तव्य तथा विचार समझ कर किसी के लिए भी उन का अन्ध विश्वास के आधार पर मानना

जरूरी नहीं कहते थे वसे ही हम सब को उन के मन्तव्यों के बारे में तथा आपस मे एक दूसरे के विचारों के बारे मे या बहुपक्ष के विचारों के बारे में सब के लिए स्वतन्त्रता देने दिलाने का व्यवहार करना उचित है। प्रेम-पूर्वक सब कोई आपस में समझें और समझावें। परन्तु जब किसी दार्शनिक वाद या विचार के बारे मे या वेद-भाष्य के बारे मे या किसी सूक्ष्म विषय में किसी को कुच्छ सन्देह हो या किसी का दूसरा मत हो, तो उस समय यह समझना चाहिये कि जब तक हमारा व्यक्तिगत तथा समाजगत आचरण तथा व्यवहार हमारे मौलिक दस नियमों के अनुसार चलता है, तब तक कई से कई मत-भेद या सन्देहों के होने हुए भी हम सब मिल कर आर्यसमाज में कार्य कर सकते हैं। किसी को इस से अलग होने को या करने की, केवल इन बातों के आधार पर, श्री स्वामी जी महाराज की शिक्षा तथा व्यवहार को देखते हुए कोई गुंजायश नहीं प्रतीत होती। जसे उन्हों ने खान पान के बारे में स्वास्थ्य तथा आयुर्वेद के नियमों के अनुसार शुद्धि तथा पुष्टि का ध्यान रखते हुए, शेष बातों को रुचि तथा जल-वायु, देश-विदेश आदि के हालात पर व्यक्तिगत निर्णय के अधीन कर दिया था, वैसे ही हमारी भी इन बातों मे धारणा तथा नीति होना चाहिए। उन के विचार-व्यवहार तथा रीति-नीति का पूरा आदर करते हुए भी, हमे सदा अपनी २ योग्यता के अनुसार, उन्हीं की तरह, स्वतन्त्र तथा सत्य-प्रिय बनने का यत्न करते रहना चाहिए। जो लोग यह समझते हैं कि क्योंकि श्री स्वामी जी ने आर्यसमाज बनाया है, इस लिए इस में रहने के लिए यह जरूरी है कि उन्हीं की हर एक बात को माना जावे, वे बड़ी भूल करते हैं, उन के साथ घोर अन्याय करते हैं और आर्यसमाज को एक अति संकुचित पन्थ के गढ़े में गिराना चाहते हैं। यदि आज श्री स्वामी जी मौजूद होते, तो वह सब से पहले आर्यसमाज के इन अन्जान हितचिन्तकों को पूर्व कहे प्रकार से अपना भाव समझाते और सीधे मार्ग पर लाते।

उपसंहार

प्रिय पाठक ! इतना ही वह वार्त्तालाप था, जिसे मैं आप को सुनाने के लिए प्रस्तुत हुआ था। इसे सुन कर अवश्य आप को सोचना होगा कि हम सब अपने आप को आर्यसमाजी कहने कहाने वाले लोग किधर को जा रहे हैं। हमें चाहिए कि हम अलग २ तथा मिल कर निम्न लिखित प्रश्नों का उत्तर अपने आप से पूछें—

(१) क्या हमारे व्यक्ति-गत जीवन में हमें भक्ति-रस का अनुभव होता है ? क्या उस के द्वारा हमारा चित्त सदा शान्त, प्रसन्न तथा भलाई करने को तय्यार रहता है ? क्या हम सच मुच सर्व-व्यापक परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं ? क्या हमारा आचरण उस को प्रसन्न करने वाला होता है ? क्या हम सचमुच उस की पूजा करते हैं ? क्या हम जिन शब्दों को भगवान् के लिए कहते हैं, उन्हें अपने हृदय से सोच समझ कर, उन के अनुसार उच्च बनने के भाव से कहते हैं ?

(२) क्या हम सचमुच वेद की पूजा करते हैं ? क्या हम उस का नित्य पठन-पाठन तथा श्रवण-श्रावण करते हैं ? क्या हम उसे सार्वजनिक बनाने के लिए, उस के मर्मज्ञ विद्वान् होकर उसे देश, विदेश की भाषाओं में कर चुके हैं ? क्या हमारा धन इस प्रकार के गहरे, विस्तृत तथा विद्वानों को प्रभावित करने वाले, सच्चे 'वेद-प्रचार' में सन्तोष-जनक प्रकार से व्यय होता है ?

(३) क्या हम सचमुच विद्या-प्रेमी हैं ? क्या हमारे मध्य में साहित्यिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रों में प्रतिष्ठित, विशाल-मति, धुरन्धर विद्वानों की पर्याप्त संख्या पायी जाती है ? क्या हमने वह उच्च कोटि का दार्शनिक तथा वैज्ञानिक साहित्य उत्पन्न किया है जिस के आगे आर्यसमाज से बाहिर के उच्च विद्वानों का मस्तक झुकता हो ?

(४) क्या हम सचमुच अविद्या को दूर करने मे लगे हुए हैं ? क्या कभी हमने अपने अन्दर भी अविद्या को देखा है और उसे दूर करने का यत्न किया है ?

(५) क्या हम सचमुच सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने के लिए उद्यत रहते हैं ? क्या कभी हमे यह सूझा है कि हमारे अपने विचार तथा व्यवहार मे भी बहुत कुच्छ असत्य हो सकता है ? क्या हम उस के शोधन के लिए सदा तत्पर रहते हैं ? क्या यह कहने का हम में साहस है कि हमारी अमुक बात मिथ्या थी, इस लिए हम ने उसे छोड़ दिया है या अब छोड़ते है ? क्या हम लोक-अपवाद से भय-भीत हो कर सत्य को दबाने तथा असत्य को ऊपर करने में निमित्त या सहायक तो नहीं होते ?

(६) क्या हम सचमुच सब के साथ प्रीति-पूर्वक, न्याय तथा धर्म के अनुसार व्यवहार करते है ? क्या हम राग-द्वेष के अधीन हो कर, अपने या अपनी संस्थाओं के आभासिक लाभ के लिये, कुटनीति, दंभ, शत्रुता आदि का व्यवहार तो नहीं करते ?

(७) क्या हम सचमुच अपनी उन्नति मे सन्तुष्ट न रह कर मनुष्य-मात्र के उपकार में लगे रहते है ? क्या हम में ऐसा करने की शक्ति पैदा हुई है ? क्या हमारा अपना आचार-व्यवहार सम्पत्ति-वैभव तथा विद्या-विज्ञान इतना उन्नत हो गया है, कि हम औरों के विकास की ओर भी ध्यान दें ? हमारी अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक स्थिति कैसी है ?

(८) क्या हम सचमुच सामाजिक विकास को चाहते हैं ? क्या हमने उस के तत्व को समझने का कभी यत्न किया है ? क्या हमने मिलकर रहना सीख लिया है ? क्या हमने आदर्शसंगठन के मार्ग का विस्तार किया है ? क्या हमारे हां नर नारी, बाल-वृद्ध, धनवान्-निर्धन, छोटे-बड़े—सब को अपनी २ योग्यता तथा रुचि के अनुसार उन्नत होते हुए, समाजसेवा का अवसर मिलना

है? क्या हम में भिन्न २ रुचियों तथा समझों के प्रति पूरा आदर तथा सहिष्णुता का भाव पाया जाता है?

(९) क्या हमारा सामाजिक ढांचा ठीक काम करता है? क्या उस का मुख व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को हड़प करने के लिए ही तो नहीं खुला रहता? क्या समाज व्यक्ति के साथ संबंध रखने वाले खान-पान, पहन पोशाक, रहन-सहन तथा विद्या-विज्ञान के वाद-विचारों और सूक्ष्म सिद्धान्तों के झगड़ों में तो नहीं पड़ा रहता? और, क्या व्यक्ति समाज को अनुचित रूप से अपने अधीन तो नहीं करते रहते? क्या वे बहुपक्ष का प्रबन्ध आदि की बातों में अनादर तो नहीं करते? क्या वे अधिकारों के लोभ में आकर निरंकुश तो नहीं हो जाते? क्या समाज और उसकी संस्थाओं के अधिकारों से अनुचित लाभ तो नहीं उठाया जाता?

(१०) क्या आर्यसमाज सचमुच श्री स्वामी जी की इच्छानुसार साम्प्रदायिक और पन्थाई भाव से ऊपर उठे हुए, निष्पक्षपात सत्यग्राही, हिन्दु-मात्र को अपने प्रेम-पाश में बांध कर एक मुट्ठ कर सकने वाले श्रेष्ठ लोगों की मण्डली है? क्या यह कहीं हिन्दुओं के एक सम्प्रदाय-मात्र की तरह तो नहीं हो रहा? क्या इस के अन्दर वह उदारता और भाव की विशालता मौजूद है जिस के आधार पर सब सम्प्रदायों में इस के भक्त मौजूद हों और यह विश्व-व्यापक वैदिक सन्देश को सब ओर सुना सके।

प्रिय पाठक! आओ, इस मेले के भीड़ भड़क्के से कहीं अलग बैठ कर इन व्यक्तिगत तथा समाजगत प्रश्नों पर गहरा विचार करें। आओ, किसी नीति-निर्णायक, सत्य निश्चय पर पहुंचो। आओ, इस पवित्र पर्व के मूल नायक, उस महापुरुष के उच्च आदर्श का चिन्तन करो। आओ, आज से उस की ओर जो ठीक मार्ग जाता है, उस पर चलना शुरू करो। आओ, सत्य-भक्ति को हृदय में स्थान दो और मानुष जीवन के परम लक्ष्य की ओर बढ़ो। वह देखो, ब्रह्मा से लेकर दयानन्द पर्यन्त, सब ऋषि मुनि

उस का दिग्दर्शन कराते हुए तुम्हें सचेत कर रहे हैं। उठो, निद्रा और तन्द्रा को छोड़ो और उन के इशारे को समझो। सकल संसार तुम्हारे मुंह की ओर आशाभरी टिकटिकी लगाये हुए खड़ा है। ॥ ॐ शम् ॥

आर्यसमाज का एक
पुराना सेवक।